इकाई 6 भारतेतर वास्तु परम्परा

इकाई की संरचना

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 भारतेतर वास्तु परम्परा

6.3 सारांश

6.4 शब्दावली

6.5 अभ्यास प्रश्न की उत्तरमाला

6.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

6.0 उद्देश्य

भारतेतर वास्तु परम्परा नामक इस इकाई के अध्ययन से आप समझ पायेंगे कि :

- वास्तु परम्परा किस प्रकार मूल रूप से भारतीय है।
- भारत से इतर देशों में भी कुछ स्वरूप परिवर्तन के साथ भारतीय परम्पराए हैं।
- अन्य देशों में और महाद्वीपों तक भारतीय वास्तु परम्परा प्रचारित और प्रसारित है।
- वास्तु परम्परा के साथ ही उस देश या स्थान की मान्यतायें मिलकर वास्तु का एक नया रूप विकसित हुआ।
- भारतीय मनीषा का चिन्तन कितना विशाल और विश्वव्यापी था।
- विश्व के अन्य देशों के इतिहास भूगोल और संस्कृति का भी ज्ञान होगा।
- वास्तुशास्त्र पर विचार करने कि स्वतन्त्र मनोवृत्ति खुलेगी।

6.1 प्रस्तावना

वास्तुकला किसी स्थान को मानव के लिए वासयोग्य बनाने की कला है। अत: कालान्तर में यह चाहे जितनी भी विकसित और जटिल हो गई हो, इसका आरम्भ मौसम की उग्रता, वन्य पशुओं के भय और शत्रुओं के आक्रमण से बचने के प्रारम्भिक उपायों में ही हुआ होगा। मानव सभ्यता के इतिहासका भी कुछ ऐसा ही आरम्भ है। समरांगण सूत्र में कथा है कि सृष्टि के उपरान्त पितामह ब्रह्मा ने संसार की योजना का भार महाराज पृथु को सौंपा। महाराज पृथु ने सर्वप्रथम पृथ्वी के बंजर भाग को उपजाऊ बनाने के लिये हल, कुल्हाडी, फावडा जैसे कृषि कार्य के कुछ संसाधन बनाए। पृथुराजा ने स्वयं पृथ्वी पर हल चलाया और परिणामस्वरूप पृथ्वी फलदायक बनी। धान्य सम्पदा की भरपूर फसलें पकने लगी। इस प्रकार कृषिवास्तु का प्रारम्भ हुआ। हम सभी जानते हैं कि कृषि कार्य हेतु जलकी जरूरत पड़ती है। अनावृष्टि के समय भी खेती के लिये जल मिलता रहे इसके लिये वापी, कूप, तालाब, सरोवर, कुंड, नहरें

आदि की रचना हुई जलवास्तु का और प्रारम्भ हुआ। एक राजा थे राजा विश्वकर्मा का कार्य नहीं कर सकते थे। अत: अपनी इस असफलता को लेकर पृथु पुनः पितामह के पास पहुंचे। पृथ्वी भी अपनी करुण कहानी को लेकर के पहुंची। दोनों की दुर्दशा देखकर ब्रह्मा ने विश्वकर्मा को बुलाया और विश्व के निवेश (विशेष कर भूतल के निवेश) का भार सौंपा।

विश्वकर्मा ने अभी तक देवपुरियों का निर्माण किया था। बह्मा के इस महानियोग में पूर्ण सफलता के लिए उन्हें सहायकों की आवश्यकता हुई। स्थपतियों की परम्परा अभी पल्लवित नहीं हुई थी। विश्वकर्मा ने अपने मानसपुत्रों को बुलाया और आर्यावर्त की चारों दिशाओं में वास्तुशास्त्र के प्रचार-प्रसार और संरचना करने के लिए सहायता की याचना की। यहीं से सम्पूर्ण विश्व के अलग अलग देशों में वहां के मौसम ऋतु और जलवायु के अनुरूप वास्तु की संरचना भी की गयी। पुर निवेश योजना, राजधानी एवं जनपदो के रक्षार्थ विभिन्न प्रकार के दुर्गों, जनावासो (पुर, नगर, ग्राम) तथा जाति एवं वर्णानुरूप प्रासाद भवनों और देवप्रतिष्ठा के लिए देवभवनों आदि की रचना भी यहीं से प्रारम्भ हुयी।

विश्वकर्मा के चार मानस पुत्र थे -

1. जय
2. मय
3. सिद्धार्थ
4. अपराजित।

इन चार पुत्रों में से मय के चार पुत्रों का उल्लेख पुराणों में मिलता है।

1. श्वेतकर्मा
2. गौरकर्मा
3. पींगटकर्मा
4. श्यामकर्मा

श्वेतकर्मा ने ग्रीस-मिश्र और यूरोप के प्रदेशों में वास्तुशास्त्र की संरचनाएं बनाई। गौरकर्मा ने पूर्वके प्रदेशों, द्वीपों, जापान और दक्षिण अमेरिका के प्रदेशों में वास्तुशास्त्र का प्रचार-प्रसार किया, और वहां की भौगोलिक स्थिति के अनुसार रचनाएं बनाई। पींगटकर्मा ने चीन और रशिया के तमाम प्रदेशों में वास्तुशास्त्र विकसित किया। श्यामकर्मा ने अफ्रिका महाद्वीप में वास्तुशास्त्रीय विकास के कार्य करने का उल्लेख मिलता है।

6.2 भारतेतर वास्तु परम्परा

वैसे तो आधुनिक परिवेश में वास्तु को दो स्थूल वर्गों में बाँटा जा सकता है :

1. प्राच्य वास्तु
2. पाश्चात्य वास्तु

प्राच्य - जैसे भारतीय, चीनी और जापानी वास्तु, जो प्राय: स्वतन्त्र शैलियाँ हैं और जिनका वास्तुविकास की परम्परा में विशेष प्रभाव नहीं पड़ा; और दूसरा पाश्चात्य वास्तु, जिसका आरम्भ मिस्र और सीरिया में हुआ और चरम विकास यूरोप में मिलता है। प्राचीन अमरीकी

और इस्लामी वास्तु की भी स्वतन्त्र शैलियाँ हैं यद्यपि इस्लामी वास्तु का अमिट प्रभाव स्पेन तक पड़ा। मिस्र और पश्चिमी एशिया का प्रभाव यूनान पर और फलत: सारी पाश्चात्य शैलियों पर पड़ा, इसलिए वे पाश्चात्य वास्तु के अन्तर्गत ही आ सकते हैं। प्राच्य कला में अनेक ऐसी बातें हैं जिनके अभ्यस्त यूरोपीय लोग नहीं हैं, इसलिए वे उन्हें अप्रिय और विरूप लगती हैं। किन्तु प्रयोग ही धीरे-धीरे प्रकृति बन जाता है। इसलिए पूर्वी और पश्चिमी वास्तु में अनिवार्यत: कुछ भेद है, जो विशुद्ध प्राच्य वास्तु में विशिष्ट धार्मिक कृत्यों और सामाजिक प्रथाओं के प्रभाव के रूप में उद्व्यक्त होता है। पूर्व में अलंकरण योजनाएँ ही प्रमुख रही हैं जबकि यूरोप में निर्माण संबंधी समस्याओं का दृढ़तापूर्वक सामना करते हुए उनके क्रमिक समाधान द्वारा वास्तु विकसित हुआ।

वास्तुकला के ऐतिहासिक विकास के प्रत्येक प्रमुख चरण के मूल में कोई न कोई विचारधारा स्पष्ट झलकती है। यूनानी वास्तु में परिष्कृत पूर्णता थी, रोमन इमारतें अपने वैज्ञानिक निर्माण के लिए प्रसिद्ध हैं, फ्रांसीसी गॉथि वास्तु उग्र क्रियाशीलता का द्योतक है, इतालवी पुनरुद्धार में उस युग का पांडित्य झलकता है और भारतीय वास्तु का प्रमुख गुण है उसका आध्यात्मिक विषय। इसमें संदेह नहीं, कि जनता की तत्कालीन धार्मिक चेतना मूर्त रूप में व्यक्त करना ही भारतीय वास्तु का मूल उद्देश्य रहा है, अर्थात् जनभावना ही ईंट पत्थर में मूर्त हुई है। भारतीय वास्तु की विशेषता यहाँ की दीवारों के उत्कृष्ट और प्रचुर अलंकरण में है। भित्तिचित्रों और मूर्तियों की योजना, जिसमें अलंकरण के अतिरिक्त अपने विषय के गंभीर भाव भी व्यक्त होते हैं, भवन को बाहर से कभी कभी पूर्णतया लपेट लेती है। इनमें वास्तु का जीवन से सम्बन्ध क्या, वास्तव में आध्यात्मिक जीवन ही अंकित है। न्यूनाधिक उभार में उत्कीर्ण अपने अलौकिक कृत्यों में लगे हुए देश भर के देवी देवता, तथा युगों पुराना पौराणिक गाथाएँ, मूर्तिकला को प्रतीक बनाकर दर्शकों के सम्मुख अत्यंत रोचक कथाओं और मनोहर चित्रों की एक पुस्तक सी खोल देती हैं।

सात महाद्वीपों मे विकसित यह भूमि भारतीय वास्तु परम्परा से आबद्ध है -

1. एशिया
2. अफ्रीका
3. यूरोप
4. उत्तरी अमरीका
5. दक्षिणी अमरीका
6. ऑस्ट्रेलिया
7. अन्टार्कटिका

एशिया की वास्तु परम्परा

भारतीय वास्तु परम्परा के उत्कृष्ट उदाहरण भारत से अन्यत्र श्रीलंका, नेपाल, वर्मा, स्याम, जावा, बाली, हिन्दचीन और कंबोडिया में भी मिलते हैं। नेपाल के शम्भुनाथ, बोधनाथ, मामनाथ मन्दिर , लंका में अनुराधापुर का स्तूप और लंकातिलक मन्दिर , वर्मा के बौद्ध मठ और पगोडा, कंबोडिया में अंकोर के मन्दिर , बैंकाक के मन्दिर , जावा में प्रांबनाम का बिहार, कलासन मन्दिर और बोरोबंदर स्तूप आदि हिंदू और बौद्ध वास्तु के व्यपक प्रसार के प्रमाण हैं। जावा में भारतीय संस्कृति के प्रवेश के कुछ प्रमाण 4 वी शती ईसवी के मिलते हैं। वहाँ के

अनेक स्मारकों से पता लगता है कि मध्य जावा में 625 से 928 ई. तक वास्तुकला का स्वर्णकाल और पूर्वी जावा में 928 से 1478 ई. तक रजतकाल था।

हाल में मध्य एशिया में जो अनुसन्धान सर औरैल स्टाइन ने किये, उनसे पता चला है कि ई. तृतीय शती के अन्त तक मध्य एशिया में अनेक भारतीय बस्तियाँ स्थापित हो गयी थीं, जिनमें प्रधानतया बौद्ध लोग रहते थे। भारतीयों ने फरात नदी के काँठे में भी अपनी कुछ बस्तियाँ बसा ली थीं और वहाँ दो मन्दिर भी बनवाये थे। ये मन्दिर चौथी शती के आरम्भ में नष्ट कर दिये गये। अतः इन मन्दिरों का आकार-प्रकार क्या था. यह निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता। ई. पूर्व प्रथम शती के मध्य में एशिया के खोतन राज्य का शासक विजयसम्भव हुआ. जिसने अर्हत वैरोचन नामक बौद्ध भिक्षु से दीक्षा ली। उसके वंशज विजयजीर्य, विजयजय, विजयधर्म आदि हुए। इन शासकों के राज्यकाल में बौद्धस्तूपों तथा विहारों का निर्माण मध्य एशिया के अनेक स्थानों पर हुआ। खोतन (कुस्तन) नगर के निकट जिस बड़े विहार की स्थापना हुई. उसका नाम 'गोश्रृंग विहार मिलता है। कुछ समय पूर्व इस विशाल विहार के कतिपय अवशेष प्राप्त हुए हैं। ई. तीसरी शती में खोतन का 'गोमति विहार' शिक्षा का केन्द्र था। चौथी शती के अन्त में जब फाह्यान वहाँ गया तो उसने इस केन्द्र को काफी उन्नत दशा में पाया। वहाँ उस समय महायान-मतावलम्बी तीन हजार बौद्ध भिक्षु रहते थे। अनुमान होता है कि मध्य एशिया के स्तूपों का निर्माण शैली बहुत कुछ उसी ढंग की थी जैसी की साँची या तक्षशिला के स्तपों में मिलती है। खरोष्ठी लिपि में लिखी जाने वाली भारतीय प्राकृत भाषा मध्य एशिया की प्रधान भाषा बन गयी थी। उसमें लिखे हुए कीलाक्षरी लेख मध्य एशिया के अनेक भागों में प्राप्त हुए हैं। शक-सातवाहन काल में मध्य एशिया के अनेक राज्यों के भारतीय नाम जैसे शैल देश, कोक्कुक, खोतन्न, कल्मद, भरुक व कूची आदि मिले हैं। इनमें दक्षिण में खोतन्त्र तथा उत्तर में कूची भारतीय संस्कृति के प्रधान केन्द्र थे, जहाँ से भारतीय भाषा. साहित्य और कला का प्रसार मध्य एशिया के अन्य प्रदेशों में भी हुआ।

पूर्वी देशों की वास्तु परम्परा

ई. सन् के आरम्भ में भारतीयों का ध्यान पूर्वी देशों की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ। भारतीय अन्वेषकों ने धीरे-धीरे मलाया, बर्मा, स्याम, कम्बोडिया, अनाम तथा हिन्देशिया के द्वीपों में अपनी अनेक बस्तियाँ बसायीं। उनमें नाम वंग, श्रीक्षेत्र, कंबुज, मालव, दशार्ण, चम्पा, श्रीविजय आदि मिले हैं। इन राज्यों में नगरों के नाम भी भारतीय रखे गये, जैसे-हस्तिनापुर, अयोध्या, वैशाली, मथुरा, कुसुमनगर, रामावती, द्वारवती आदि। अधिकांश राज्यों के शासक भारतीय थे। गुप्तकाल में ये स्थान भारतीय संस्कृति के रंग में पूर्णतया रंग गये। भारतीय रीति-रिवाज, लिपि, भाषा और कला का इन देशों में बराबर प्रसार होता रहा। भारतीय लोग वहाँ के निवासियों के साथ खान-पान तथा वैवाहिक सम्बन्ध करने लगे। बृहत्तर भारत की एक सीमावंक्षु और तारीम नदियों के कांठे तक पहुँची तो दूसरी हिन्दचीन और हिन्देशिया के पूर्वी छोरों तक।

हिन्दचीन तथा हिन्देशिया की वास्तु परम्परा

हिन्दचीन तथा हिन्देशिया के विभिन्न भागों से वास्तुकला एवं मूर्तिकला के जो सैकड़ों अवशेष उपलब्ध हुए हैं उनसे एक लम्बे समय तक इन देशों में भारतीय संस्कृति के व्यापक प्रसार का पता चला है। उत्तर-गुप्तकाल की जो इमारतें हिन्दचीन में मिली हैं उनसे ज्ञात होता है कि बौद्ध तथा हिन्दू इमारतों का निर्माण कुछ समय तक साथ-साथ चलता रहा। बर्मा में क्रोम

और थतोन आदि स्थानों से प्राप्त बौद्ध स्तूपों तथा वैष्णव एवं शैव मन्दिरों के प्राप्त अवशेषों से यह बात प्रमाणित होती है। कम्बोडिया में प्राप्त हिन्दू मन्दिरों का वास्तु विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनका ढंग लगभग उसी प्रकार का है, जैसा उ.प्र. में देवगढ़ के गुप्तकालीन मन्दिर में मिलता है। कंबोडिया के मन्दिर चौकोर आकृति के तथा सपाट छत वाले हैं। उनमें प्रदक्षिणा मार्ग नहीं मिलता। ईंट से निर्मित लगभग 50 मन्दिर कम्बोडिया के प्रैकुक, कोपंग, थोम आदि स्थानों में मिले हैं। उनकी बाहरी दीवारों पर उत्कीर्ण शिलापट्ट बड़ी संख्या में मिले हैं। उन पर प्रायः विष्णु, ब्रह्मा, शिव, दुर्गा, गणेश आदि हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियाँ मिली हैं। बौद्ध मूर्तियाँ भी कम्बुज में प्राप्त हुई हैं, पर अपेक्षाकृत कम हिन्दचीन के पूर्वी छोर पर, जिसे प्राचीन काल में 'चम्पा' कहते थे, मिसोन नामक स्थान में धर्मराज श्री भद्रवर्मा ने चौथी शती के अन्त में भद्रेश्वर स्वामी महादेव का एक विशाल मन्दिर बनवाया, जो बाद में हिन्दचीन तथा हिन्देशिया का एक सांस्कृतिक केन्द्र बना। चम्पा तथा कम्बुज के अधिकांश शासक हिन्दू धर्म के अनुयायी थे और उनके समय में इन देशों में भारतीय संस्कृति का अच्छा प्रचार हुआ। कम्बुज के अभिलेखों में भारत को 'आर्यदेश कहा गया है।

ई. 600 से लेकर प्रायः 1300 ई. तक पूर्व-मध्यकाल में दक्षिण-पूर्व के वास्तु पर भारतीय प्रभाव विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है। इस काल के अवशेष भी अधिक मिले हैं। बर्मा के अनेक नगरों में इस काल में बौद्ध तथा हिन्दू मन्दिरों का बड़ी संख्या में निर्माण हुआ। पगान शहर के लगभग पांच हजार पगोड़ों में प्राचीन आनन्द मन्दिर उल्लेखनीय है। यह वर्मा के राजा किजित्थ के शासनकाल (1084-1112 ई.) में बना। इसका निर्माण भारत के कारीगरों द्वारा किया गया। इस मन्दिर में बौद्ध धर्म सम्बन्धी मूर्तियों की संख्या 81 है तथा लगभग डेढ़ हजार मृण्मूर्तियाँ मन्दिर में यथास्थान लगी हैं, जिन पर जातक दृश्य बड़ी सुन्दरता के साथ उत्कीर्ण हैं। मन्दिर के वहिर्भाग में इस प्रकार के शिला-पों का प्रदर्शन उत्तर तथा दक्षिण भारत के मन्दिरों में प्रायः मिलता है। बर्मा के अधिकांश मन्दिर ईंटों के बने हैं। उनकी भीतरी दीवारों पर जो अलंकरण हैं, वे बंगाल की पाल-चित्रकला से प्रभावित हैं।

कम्बोडिया की वास्तु परम्परा

कम्बोडिया के अंकोरथम नगर में राजा यशोवर्मा के द्वारा बनवाये हुए मन्दिर में हिन्दू और बौद्ध मूर्तियाँ साथ-साथ उकेरी मिली हैं। राजा जयवर्मा सप्तम ने 12वीं शती के अन्त में अंकोरथम का पुनर्निर्माण कराया, जिसमें भारतीय वास्तुकला की ओर विशेष ध्यान दिया गया। कम्बोडिया का सबसे महत्वपूर्ण भारतीय मन्दिर 1125 ई. में कम्युज के शासक सूर्यवर्मा द्वितीय के द्वारा बनवाया गया। यह अंकोरवट के मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है। जिस नगर में यह मन्दिर बनाया गया उसका प्राचीन नाम यशोधरपुर था। इस विशाल मन्दिर में रामायण की सारी कथा को मूर्त रूप दिया गया। इसके अलावा मन्दिर में महाभारत और पुराणों के दृश्य, यक्ष किन्नर, गन्धर्व तथा अप्सराएँ जगह-जगह अत्यन्त सुन्दरता के साथ अंकित हैं। वास्तव में यह मन्दिर मध्यकालीन हिन्दू स्थापत्य की एक उत्कृष्ट कृति है, जिसमें वास्तुकला, मूर्तिकला और साहित्य की झाँकी एकत्र मिलती है। अंकोरवट के अतिरिक्त कम्बोडिया में बफून, बंतेचमर आदि की इमारतें भी दर्शनीय हैं, जिन पर भारतीय वास्तु का स्पष्ट प्रभाव है। मलाया में मध्यकाल में हिन्दू तथा बौद्ध मन्दिर प्रचुरता से मिले हैं। मलाया के वेलेजली प्राप्त में बौद्ध मन्दिरों के विशेष तथा कुछ महत्वपूर्ण अभिलेख प्राप्त हुए हैं।

जापानी वास्तु परम्परा

यद्यपि जापानी वास्तु का मूल चीन में है, फिर भी निर्माण और अलंकरण की बारीकी इसकी अपनी विशेषता है। अनेक बौद्ध मन्दिर और पगोडा देश भर में फैले हैं। क्यूटो में मिकाडो का महल और किंकाकूजी तथा जिंकाकूजी के उद्यानमंडप और नगोया में शुकिन रो सराय उल्लेखनीय हैं। सातवीं शती से सुमात्रा-जावा में श्रीविजय राज्य का आधिपत्य शैलेन्द्र वंश के हाथ में गया। शैलेन्द्र लोग कलिंग-प्रदेश से सुमात्रा के दक्षिण में पहुँचे थे। धीरे-धीरे उन्होंने मलाया, सुमात्रा, जावा तथा निकटस्थ द्वीपों पर अधिकार कर लिया। ये शासक महायान बौद्ध सम्प्रदाय के अनुयायी थे। बौद्ध मत के प्रसार के लिए उन्होंने बड़ा उद्योग किया। शैलेन्द्र राजाओं ने मगध-शासकों के साथ मैत्री सम्बन्ध रखा। शैलेन्द्र राजा बालपुत्रदेव ने नालन्दा में एक बड़ा बौद्ध विहार स्थापित किया। इस वंश ने चंडी-कलसन नामक स्थान पर तारादेवी का भी एक बड़ा मन्दिर बनवाया। शैलेन्द्र शासन-काल की सबसे अधिक उल्लेखनीय इमारत बाराबुदुर का स्तूप है। इसका निर्माण वीं शताब्दी के अन्त में जाया में हुआ। इस विशाल इमारत में 6 खण्ड हैं। निचले 6 खण्ड चौकोर हैं तथा ऊपर के 3 गोलाकार । इस भव्य इमारत के द्वार तथा प्रदक्षिणा-मार्ग विविध उत्कीर्ण शिलापट्टों से सुसज्जित हैं। कुल शिलापट्टों की संख्या 1500 से ऊपर है। भगवान् बुद्ध की जीवन-गाथा, जो अनेक बौद्ध ग्रन्थों में मिलती है, इन शिलापट्टों पर बड़ी सजीवता के साथ उत्कीर्ण है। शिल्पियों ने जिस कुशलता के साथ प्रकृति और मानव-जीवन की अनेकरूपता का चित्रण पत्थर पर किया है. वह अत्यन्त सराहनीय है। बोरोबुदुर के अतिरिक्त नवीं शताब्दी में निर्मित परंबनम् के तीन विशाल मन्दिर भी उल्लेखनीय हैं। ये क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और शिव के हैं। तीसरे मन्दिर पर रामायण की सारी कथा उकेरी हुई है। इसे देखने पर महाकाव्य की घटनाएँ हमारी आँखों के सामने मूर्त हो जाती हैं। मल्लम् नगर के समीप जागो का बौद्ध मन्दिर है, जिस पर कृष्ण लीलाओं का सुन्दर प्रदर्शन है। वास्तव में सुदूर पूर्व के ये मन्दिर हिन्दू और बौद्ध धर्म के समन्वय के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। मध्यकाल के इमारती पत्थर हिन्दचीन तथा हिन्देशिया में बहुलता से उपलब्ध हुए हैं। इनमें से कुछ तो मन्दिरों के हैं और शेष मकानों के इन पर भारतीय अलंकरण-चिन्ह कमल, मंगल-घट कीर्तिमुख, मकर, पशु-पक्षी, लता आदि-बड़े कलात्मक एवं प्रभावोत्पादक ढंग से अंकित मिलते हैं।

श्रीलंका की वास्तु परम्परा

दक्षिण में लंका की प्राचीन वास्तुकला पर भी भारतीय स्थापत्य की पूरी छाप है। अशोक समकालीन राजा देवानांपिय तिस्स ने महेन्द्र और संघमित्रा के सम्मानार्थ एक महाविहार की स्थापना की जो सिंहल में बौद्ध धर्म का एक प्रधान केन्द्र बन गया। अनुराधापुर तथा पोलन्नरुव में अनेक बौद्ध स्तूप अब भी विद्यमान हैं। ई. पूर्व 100 के लगभग अनुराधपुर में जिस दीर्घाकार स्तूप (महाथूप) का निर्माण हुआ, उसके गोले की ऊँचाई 270 फुट है। ईसवी चौथी शती में सिंहल के राजा मेघवर्ण ने जेतवनाराम का निर्माण कराया। मध्यकाल में हिन्दू धर्म सिंहल में बहुत फैला 10वीं-11वीं शती में जब सिंहल चोल शासकों के आधिपत्य में गया. तब वहाँ घोल-शैली के हिन्दू-मन्दिरों का निर्माण हुआ। कुछ मन्दिरों में बड़े ही सुन्दर अलंकृत विमान मिलते हैं। लंका में सिगरिय नामक स्थान पर राजा काश्यप के प्रासाद मिले हैं, जिनके भित्तिचित्र उसी प्रकार के हैं जैसे कि हमें अजन्ता में मिले हैं। भारतीय स्थापत्य के विभिन्न अंगों का विकास विदेशों में दीर्घकाल तक हुआ। भारतीय संस्कृति ने अपनी उदारता के कारण अन्य क्षेत्रों की तरह वास्तु-कला के क्षेत्र में भी अपना स्थायी प्रभाव स्थापित किया। शताब्दियों तक विभिन्न देशों के कलाकार भारतीय कला के सिद्धान्तों से प्रेरणा ग्रहण कर अपनी कृतियों को

मण्डित करते रहे। भारतीय प्रभाव की मूर्तरूप इमारतें एशिया के अनेक देशों में अब तक विद्यमान हैं, जो भारत की सांस्कृतिक विजय की मधुर स्मृति संजोये हुए हैं। विश्व को भारतीय वास्तुकला की देन-मिश्र के पिरामिडों में कुछ स्थलों पर वैष्णवतिलक लगाये हुए कारीगरों के चित्र खुदे हुए पाये गये हैं, जो इस बात के प्रमाण हैं कि उन पिरामिडों के निर्माता भारतीय ही थे। मुस्लिमतीर्थ मक्का में भी भारतीय वास्तुविदों ने विशाल मन्दिर बनाया था जिसमें हरिहरेश्वर विम्ब (चौकोर पत्थर) के साथ वर्ष के 360 दिनों (सूर्य के अंशों) की प्रतीक 360 मूर्तियाँ रखी गयी थीं। इटली की वेटिकन नगरी में आज भी बड़े-बड़े शिवलिंग खड़े हुए हैं। अमेरिका में पुरातत्त्व खुदाईयों में कुछ स्थलों पर गणेश जी की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। अफगानिस्तान की विशाल बुद्ध प्रतिमा भारतीय वास्तुकला का जीता जागता नमूना है। पूर्व के बौद्ध मन्दिरों पर भारतीय वास्तुकला का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

प्रागैतिहासिक अवशेष, जिनका वास्तुकीय की अपेक्षा पुरातात्विक महत्व ही अधिक है, प्राय: एकाश्मक (जैसे कुस्तुंतुनिया, उत्तरी फ्रांस, इंग्लैंड, या भारत में), स्तूप (जो शायद मिस्र के पिरामिड या वेल्स, स्काटलैंड और आयरलैंड के छत्ताकुटीर जैसे ही बने) तथा स्विट्जरलैंड, इटली, या आयरलैंड में मिले सरोवर निवासों के रूप में हैं। बाद में धीरे-धीरे इनका विकास होता गया।

चीनी वास्तु परम्परा

चीनी वास्तुशास्त्रियो द्वारा शोधित वास्तुशास्त्र फेंगशुई के नाम से भी प्रसिद्ध है, यह वहां के ताओवादी धर्मं तथा दार्शनिक जीवन पर आधारित है । चीनी भाषा में फेंग का अर्थ हवा एवं सुई का अर्थ पानी या जल है । इस प्रकार फेंगसुई का अर्थ हवा और जल हुआ । साधारण भाषा में हम यह भी कह सकते हैं कि जीवन में जलवायु का उचित सामंजस्य या प्रभाव स्थापित करवाना ही फेंगसुई परम्परा का मुख्य उद्देश्य है । अर्थात जलवायु, वातावरण, परिवेश, स्थिति या देश-काल-परिस्थिति के अनुसार उसके साथ सही प्रकार से सम्बन्ध स्थापित कर रहे जीवन की कला को ही चीनी विद्वानों ने फेंगसुई का नाम दिया है । चीनी वास्तु शास्त्र परम्परा में मुख्यतः सप्तावश्यक वार्ता को उद्धृत किया जाता है या सात प्रकार की शुभ बातों का ध्यान रखा जाता है -

1. प्रकाश
2. आरोग्यता
3. पर्यावरणीय संतुलन
4. अलोभ
5. अहंकार रिक्तता
6. असूया
7. बुद्धिमत्ता

इन्ही सप्त तथ्यों के आधार पर फेंगसूई परम्परा में जीवन जीना चाहिए । इसी से सकारात्मक ऊर्जा का संचार होता है, अर्थात इस सप्ताचरण को जीवन में सही मायने में स्थापित कर लेने से सप्त सकारात्मक उर्जा का संचार भी होता है । चीनी वास्तु में बौद्ध और मुस्लिम प्रभाव स्पष्ट हैं। भारत के तोरणों की भाँति पत्थर या लकड़ी के द्वार चीनी वास्तु की विशेषता हैं। एक दूसरे के

ऊपर अनेक छतें बनाकर ऊँची इमारतों में भी चौड़ाई का आभास पैदा किया जाता है। यद्यपि पत्थर भी वहँ मिलता है, फिर भी इमारतों में लकड़ी और ईंट का प्रयोग ही प्राय: हुआ है, क्योंकि मिस्रवालों की भाँति स्थायित्व उनका लक्ष्य न था। पीकिंग में महामकर मन्दिर (1420) और ग्रीष्म प्रासाद का निद्रामग्न बुद्ध मन्दिर तथा 17 डाटों वाला संगमर्मर का पुल, कैंटन में हो'नन मन्दिर (918), नानकिन में पगोडा (1412) कला की दृष्टि से उल्लेखनीय है। 1400 मील लंबी प्राचीर तो विश्वविख्यात ही है।

अफ्रीका

भारत की सिंधु घाटी सभ्यता के बाद, प्राचीनता में मिस्र, यूनान और रोम का नाम लिया जाता है। पाश्चात्य वस्तुकला में ये ही तीन देश अग्रणी रहे। सादे और आवर्तक मिस्री वास्तु के बाद यूनान की अति विकसित मन्दिर -निर्माण-कला में और फिर उसे बाद रोमन साम्राज्य की विविध सार्वजनिक निर्माण के लिए आवश्यक जटिल पद्धतियों में, वास्तु के क्रमिक विकास का इतिहास मिलता है। मिस्र में घर अस्थायी निवास समझे जाते थे और कब्रें स्थायी। इसी विचारधारा के पोषण सम्राटों के लिए निर्मित अति विशाल, भारी भरकम पिरामिडों और रहस्यपूर्ण मन्दिरों में मिलता है। इसे विपरीत यूनानी मन्दिर जनता के लिए बने और प्रस्तरकला में सुंदरता आई। साहित्य, संगीत और कला की उन्नति के साथ साथ रंगमंच, क्रीड़ांगण और मल्लशालाएँ भी विकसि हुइ। संगमर्मर के प्रयोग से कृतियों में सफाई और बारीकी आई। सौंदर्यप्रिय यूनानियों ने भारतीय वास्तुकों की भांति ही, किन्तु बहुत पहले ही, स्वतन्त्र रूप से, स्तंभों की डोरिक, आयोनिक और कोरिंथियन नामक विशिष्ट शैलियाँ विकसित की थीं। किन्तु जब 146 ई.पू. में यूनान रामन साम्राज्य का अंग हो गया, तब उसका स्वतन्त्र प्रभुत्व भी समाप्त होगा। हाँ, उसका प्रभाव रोमन कला में अन्त तक अवश्य बना रहा।

रोमन वास्तु परम्परा

रोमन वास्तु में साम्राज्य की शान शौकत झलकती है। भव्य मन्दिरों के अतिरिक्त सड़कों, विजयद्वारों, पुलों आदि अनेक जनोपयोगी निर्माण कार्यों में रोमन शैली का समावेश हुआ। इस प्रकार रोमन वास्तु सारे यूरोप में फैला और यूरोपीय वास्तु का आधार बना। रोमन साम्राज्य के पतन के साथ ही इस महानद्य सभ्यता और उत्कृष्ट वास्तुकला का अध्याय भी समाप्त हो गया। किन्तु जिद्दा से जो ईसाई धर्म साम्राज्य भर में फैल चुका था, उसका प्रभुत्व बढ़ता रहा। कुछ काल पश्चात् 8वीं शती ई. में बड़े बड़े गिरजाघर बने, जिनमें "रोमनेस्क" नाम से उत्तरकालीन रोमन वास्तु का पुनरुत्थान हुआ। गिरजा घरों का जनजीवन में महत्वपूर्ण स्थान रहा और इन्हीं के अतंर्गत शिक्षा संस्थाएँ, पुस्तकालय, संग्रहालय और चित्रशालाएँ स्थापित हुईं। गिरजों की य कला गॉथिक शैली कहलाई, जो मध्ययुगीन सभ्यता का दर्पण कहीं जा सकती है। महत्वपूर्ण निर्माण सिद्धान्तों के अनुसार उस समय तक की यूरोपीय वास्तुकला की मुख्य तीन शैलियाँ, 1. स्तम्भ और धरनों वाली यूनानी शैली, 2. स्तम्भ और अर्धवृत्त डाटवाली रोमन या मिश्रित शैली और 3. नोकदार डाटोंवाली गॉथिक या चापीय शैली, इतिहास प्रसिद्ध हैं।

युरोपीय वास्तु परम्परा

वास्तुशैलियों के विकास में फिर कुछ विराम आया। इसी बीच पुनरुद्धार शैली का पथ प्रश्स्त करनेवाली परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई। बारूद के आविष्कार से समर पद्धतियाँ और फलत: किलों के विन्यास बदल गए। नई दुनिया की खोज हो चुकी थी। सन् 1453 ई. में कुस्तुंतुनिया के पतन

के बाद यूरोप में यूनानियों के आप्रवास का भी प्रभाव पड़ा। फलत: इटली के ही समृद्ध और व्यापारिक नगर फ्लोरेंस में एक प्रतिद्वंद्वी शैली का जन्म हुआ। नए गिरजाघरों और राजमहलों में गॉथिक युग की नुकीली डाटें, प्रतिच्छेदी मेहरावें और ऊर्ध्वाधर लक्षण नहीं, बल्कि चिरप्रतिष्ठित रोमन शैली के अर्धवृत्ताकार गुंबद ही परिष्कृत रूपों में अपनाए गए। पुनरुद्धार का यह आंदोलन इटली से फ्रांस, जर्मनी, स्पेन, नीदरलैंड और इंग्लैंड तक फैला। हाँ, कालक्षेप के साथ इंग्लैंड में यह धीरे धीरे ही फैला, जिससे वहाँ दोनों शैलियों का मिश्रण दिखाई देता है। उन्नीसवीं शती में परम्परागत वास्तुशैलियों में, मुख्यतया वास्तुकों की व्यक्तिगत रुचि के कारण, अनेक परिवर्तन हुए और एक "शैली संघर्ष" ही उपस्थित हो गया। किन्तु वास्तुकला आज भी सामयिक विचारधारा का प्रतिनिधित्व करती है। यह संग्रहालयों, पाठशाओं, पुस्तकालयों, पठन केंद्रों, चिकित्सालयों, तरणतालों, स्नानागारों, विद्यालयों, चित्रशालाओं एवं कलाभवनों तथा वैज्ञानिक एवं जन-कल्याण-संस्थानों के निर्माण से स्पष्ट है। बीसवीं शती में पुनरुद्धार शैली सार्वजनिक भवनों और मार्गों आदि के लिए, तथा गॉथिक शैली गिरजाघरों और शिक्षालयों के लिए, विशेष रूप से प्रयुक्त होती है। निवास भवन सादी और उपयोगिता लक्षी शैली में ही पसन्द किए जाते हैं।

अमरीकी वास्तु परम्परा

अमरीकी वास्तु के विकास में तीन चरण स्पष्ट हैं। पहला है उपनिवेशीय काल (1775-83), प्रारम्भिक उपनिवेशों की स्थापना से क्रान्ति तक। इसमें यूरोपीय वास्तु से मिलता जुलता ही निर्माण हुआ है। दूसरा है आधुनिक काल (जिसे उपनिवेशोत्तर, राष्ट्रीय, या गणतन्त्रीय काल भी कहते हैं) क्रान्ति से शिकागो प्रदर्शनी (1893) तक। इसमें राजधानियों के उपयुक्त महत्वाकांक्षासूचक और स्मारकीय भवन बने। 19 वीं शती की यूरोप की "यूनानी चेतना" भी वहाँ पहुँची। तीसरा अर्वाचीन काल (1893 से अब तक) है, जिसमें यूरोपीय "शैलीसंघर्ष" की भाँति ही यहाँ भी कोई एक दो शैलियाँ युग का प्रतिनिधित्व करती हुई नहीं कही जा सकतीं। सामाजिक स्थिति और श्रमसेवी उपकरणों से प्रभावित निवासों में उपयेगितालक्षी शैली स्पष्ट है, जब कि गिरजाघरों में वही गॉथिक शैली समादृत है। हाँ कुछ न कुछ मौलिकता का समावेश सभी जगह अवश्य देखने में आता है। यह भी उल्लेखनीय है कि केवल दो तीन शताब्दियों में ही जितना द्रुत परिवर्तन यहाँ हुआ है, उतना संसार में अन्यत्र कहीं नहीं। आजकल गगनचुम्बी बहुमंजिली इमारतें अमरीका की विशेषता हैं।

अभ्यास प्रश्न –1

1. विश्वकर्मा के मानस पुत्रों की संख्या कितनी थी -

   अ. 2 ब. 4 स.5 द.8

2. अमरीकी वास्तु के विकास में कितने चरण माने गये हैं -

   अ. 2 ब. 4 स.5 द.3

3. यूरोपीय वास्तुकला की मुख्य कितनी शैलियां हैं -

   अ. 3 ब. 1 स. 4 द.8

4. जापान और दक्षिण अमेरिका के प्रदेशों में वास्तुशास्त्र का प्रचार-प्रसार किसने किया -

   अ. मय ब. श्वेतकर्मा स. पींगटकर्मा द. गौरकर्मा ने

अभ्यास प्रश्न –2

निम्नलिखित में से सत्य असत्य का निर्धारण कीजिये

1. विश्वकर्मा के चार पुत्र थे। ()
2. 14 द्वीपों से युक्त सम्पूर्ण पृथ्वी है। ()
3. एशिया महाद्वीप में वास्तुशास्त्र की परम्परायें हैं। ()
4. श्वेतकर्मा ने ग्रीस-मिश्र और यूरोप के प्रदेशों में वास्तुशास्त्र की संरचनाएं नही बनाई ()

अभ्यास प्रश्न –3

रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिये –

1. कम्बोडिया के अंकोरथम नगर में .... परम्परा के मन्दिर हैं।
2. जापानी वास्तु परम्परा का मूल............वास्तु में अन्तर्निहित है।
3. सर्वप्रथम राजा पृथु के द्वारा............. वास्तु का प्रारम्भ हुआ।
4. भारतीय वास्तु परम्परा के उत्कृष्ट उदाहरण भारत से अन्यत्र .... है।

6.3 सारांश

उपर्युक्त इकाई के अध्ययन से यह सारांश रूप में कहा जा सकता है कि एक अलग सा भूमिखण्ड दिखायी पड़ने पर भी भारत संसार से कभी अलग नहीं रहा है। बहुत प्राचीनकाल में भारत के निवासी अपने पड़ोसी देशों के साथ स्थल तथा जल मार्गो द्वारा यातायात सम्बन्ध स्थापित कर चुके थे। पश्चिम में प्राचीन भारत के व्यापारिक सम्बन्ध अफगानिस्तान, ईरान, बेबीलोन, मिस्र और यूनान के साथ उत्तर में मध्य एशिया: पूर्व में चीन के साथ तथा दक्षिण-पूर्व एवं दक्षिण में बर्मा, हिन्दचीन, हिन्देशिया तथा लंका के साथ रहे। उक्त देशों के साथ एक दीर्घकाल तक आर्थिक सम्बन्ध स्थापित रहने के कारण भारत और इन देशों के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान का होना अनिवार्य था। मौर्य सम्राट् अशोक के समय से भारत के द्वारा सांस्कृतिक सम्पर्क बढ़ाने की प्रवृत्ति का स्पष्ट पता चलता है। अशोक ने 'वसुधैव कुटुम्बकम' की उदार भारतीय भावना को कार्य रूप में परिणत करने का सराहनीय प्रयत्न किया। उसने लंका, चर्मा असीरिया, मिस्र, मेसीडोनिया, एपीरस आदि देशों में अनेक विद्वान् भेजे. जिन्होंने इन देशों को कल्याणकारी धर्म का सन्देश सुनाया। अशोक के बाद वैरोचन, काश्यप, मातंग, धर्मरक्ष, आर्यकाल, कुमारजीव, गुणवर्मा, होदो, शान्तिरक्षित, दीपंकर, श्रीज्ञान आदि विद्वानों ने चीन, जापान, तिब्बत आदि देशों में संस्कृति प्रचार का कार्य बड़ी लगन के साथ किया। धर्म-प्रचारकों की यह परम्परा 12वीं शताब्दी के अन्त तक जारी रही। इन लोगों ने कितने ही भारतीय ग्रन्थों का विदेशी भाषाओं में अनुवाद कर धर्म के साथ-साथ साहित्य के संरक्षण एवं अभिवृद्धि में भी विपुल योग दिया।

वस्तुतः जीवन के विविध इन्द्रियों तथा मन का सीधा सम्बन्ध प्रकृति के साथ है यदि आप विचार करेंगे तो पाएंगे कि मनुष्य के नेत्र से अधिक दूर तक देखने की क्षमता कुछ अन्य जीवो में जैसे उल्लू गीत आदमी होती है उसी प्रकार मनुष्य की नासिका से अधिक सूंघने की शक्ति

भी अन्य जीवों जैसे कुत्ते आदमी होती है इसी प्रकार से अन्य जीवो में मानव की इन्द्रियों से अधिक सामर्थ्य हमें दिखाई देता है इसका एक कारण इन जीवो के प्रकृति के समीप रहना भी है आदि काल से ही भारत में एकान्तवास की परम्परा है। हमारे ऋषि मुनि भी अपने इन्द्रियों के सामर्थ्य में वृद्धि तथा मन पर नियन्त्रण हेतु वनों में कुटिया बनाकर रहते थे, प्रकृति के समीप से क्रांतदृष्टा ऋषि भी अपनी इन्द्रियों के सामर्थ्य का असीमित विकास कर लेते थे। भारतीय वास्तु शास्त्र में भी भवन निर्माण के सम्बन्ध में ऐसे भवन की कल्पना की गई है जो मानव मात्र को प्राकृतिक आसामी प्रदान करें उस भवन में रहकर भी मानव को प्राकृतिक शक्तियों का लाभ प्राप्त होता है। भारतीय वास्तुशास्त्र मुख्य रूप से प्राकृतिक शक्तियों के साथ भवन और मानव के सामंजस्य के इसी सिद्धान्त पर काम करता है यत पिंण्डे तथा ब्रह्माण्डे इस सिद्धान्त के अनुपालन में भारतीय वास्तु शास्त्र ने ब्रह्माण्ड मानव और भवन में निहित पंचमहाभूतों के समन्वय की कल्पना की और प्रकृति के साथ समन्वय कर भवन निर्माण का चिन्तन किया जब तक मनुष्य प्रकृति के साथ समन्वय कर अपना जीवन यापन करता रहा तब तक प्रकृति ने मानव को अपना आशीर्वाद प्रदान कर उसे सुख में जीवन प्रदान किया और जब से मनुष्य ने प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिए उसके विरोध में कार्य करना प्रारम्भ कर दिया तब से उसे सदैव ही दुख झेलना पड़ा है इसका प्रमाण हमें समरांगणसूत्रधार के सहदेव आधिकार में वर्णित इस कथा से प्राप्त होता है जिसमें आधुनिक विकास सिद्धान्त के प्रतिकूल यह कहा गया है कि प्राचीन काल में मानव और देवता एक साथ रहते थे। मनुष्य देवताओं के उपकार को भूलकर अहंकार से युक्त होकर अपने आप को देवताओं से भी श्रेष्ठ समझने लगे देवताओं ने मानव के इन कार्यों को कुछ समय तक देखा परन्तु बार-बार मानव के द्वारा अवज्ञा होने पर देवताओं ने मानव के ऊपर अपने उपकार करना बन्द कर दिया। इस प्रकार पृथ्वी पर भवन निर्माण की परम्परा का सूत्रपात हुआ भवन निर्माण और पृथ्वी के नियोजन किया कथा पौराणिक ग्रनथों में वर्णित है इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि भारतीय वास्तुशास्त्र का आरम्भ पौराणिक युग से ही हुआ। वैदिक साहित्य काल में भी अनेक स्थलों पर भवन निर्माण वास्तुशास्त्र से सम्बन्धित तत्व यत्र तत्र दृष्टिगोचर होते हैं। इस प्रकार आधुनिक काल में व्यापारियों तथा धर्मप्रचारकों के विदेशों में आवागमन के फलस्वरूप भारतीय संस्कृति की व्यापकता बढ़ी एशिया महाद्वीप के अनेक देशों में न केवल यहाँ की भाषा, रहन-सहन और आचार-विचार को अपनाया गया, अपितु भारतीय स्थापत्य, मूर्तिकला और चित्रकला का भी वहाँ प्रसार हुआ। भारत ने स्तूप तथा मन्दिर के रूप में स्थापत्य के दो प्रमुख धार्मिक रूपों को जन्म दिया। इन दोनों के उद्भव तथा विभिन्न शैलियों में उनके विकास की कथा पिछले अध्यायों में दी गयी है। स्तूप तथा मन्दिर का निर्माण भारत की सीमाओं तक ही आबद्ध नहीं रहा। बहुत प्राचीन काल से भारत के पड़ोसी देशों ने इन दोनों को अपनाना आरम्भ किया और अपनी आवश्यकताओं के अनुसार उन्हें आगे बढ़ाया।

6.4 शब्दावली

महाद्वीप - **सप्तद्वीपा वसुन्धरा** अर्थात् सात द्वीपों से युक्त सम्पूर्ण पृथ्वी।

भारतेतर - भारत से अन्यत्र।

दृष्टिगोचर - आंखों से दिखायी देना।

परम्परा - जो पीढियों से चली आ रही हो।

अर्वाचीन काल - वर्तमान या आधुनिक समय

6.5 अभ्यास प्रश्न की उत्तरमाला

उत्तरमाला

अभ्यास प्रश्न –1

1. ब. 4
2. द. 3
3. अ. 3
4. द. गौरकर्मा

अभ्यास प्रश्न –2

1. सत्य
2. असत्य
3. सत्य
4. असत्य

अभ्यास प्रश्न –3

1. भारतीय परम्परा
2. चीनी वास्तु परम्परा
3. कृषि
4. मिलते

6.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

भारतीय वास्तुशास्त्र

भारतीय वास्तु का इतिहास

वास्तुसौख्यम्

वास्तुकलानिधि

वास्तुकला का इतिहास

स्थापत्यकला का इतिहास

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY